आदर्श गुरु

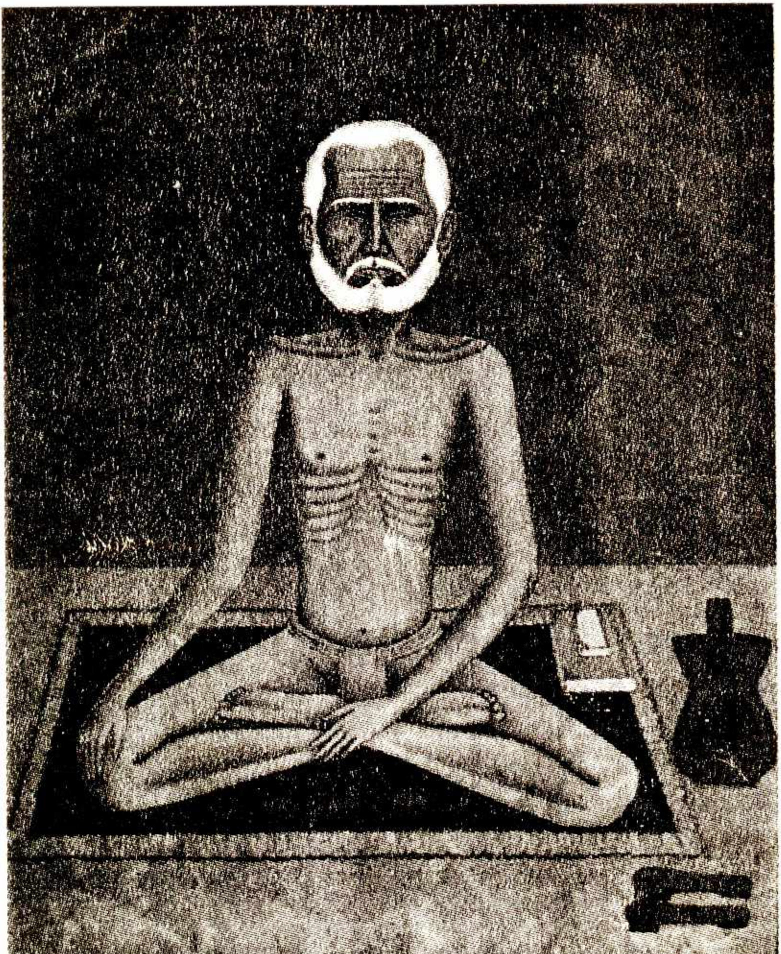

गुरुवर स्वामी विरजानन्द

पूर्व-वचन

दयानन्द-दीक्षा-शताब्दी के उपलक्ष्य में यह 'आदर्श गुरु-शिष्य' पुस्तिका आर्य जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। इस पुस्तिका में महर्षि दयानन्द के दीक्षा-गुरु प्रज्ञाचक्षु गुरुवर विरजानन्द का संक्षिप्त जीवन, दयानन्द की दीक्षा का प्रकार एवं गुरु-शिष्य से सम्बद्ध घटनाओं का विशद वर्णन किया गया है।

यह पुस्तिका हमें दयानन्द-दीक्षा-शताब्दी का संदेश हृदयङ्गम करने में समर्थ बनाती है जो गुरु-शिष्य की भव्य परम्परा के पुनरुज्जीवन का सन्देश है, जिसमें ऐसे गुरु-शिष्यों की उत्पत्ति का आह्वान निहित है जो महान् विरजानन्द और दयानन्द के सदृश एक-दूसरे से प्रशस्त हों, देश के ही नहीं, अपितु मानव-जाति के भाग्य-निर्माता बन कर चमकें और जो पथ-भ्रष्ट एवं अज्ञान के निविड़ अंधकार से आच्छादित समाज के लिए युग-युगान्तर तक प्रकाश-स्तम्भ बनकर प्रेरणा प्रदान करते रहें।

निःसन्देह श्री रघुनाथप्रसाद जी पाठक का यह यत्न सामयिक तथा प्रशंसनीय है।

महर्षि दयानन्द भवन
(रामलीला मैदान)
नई दिल्ली—१
८-१२-१९५९

रघुवीर सिंह शास्त्री
मंत्री
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

आदर्श शिष्य

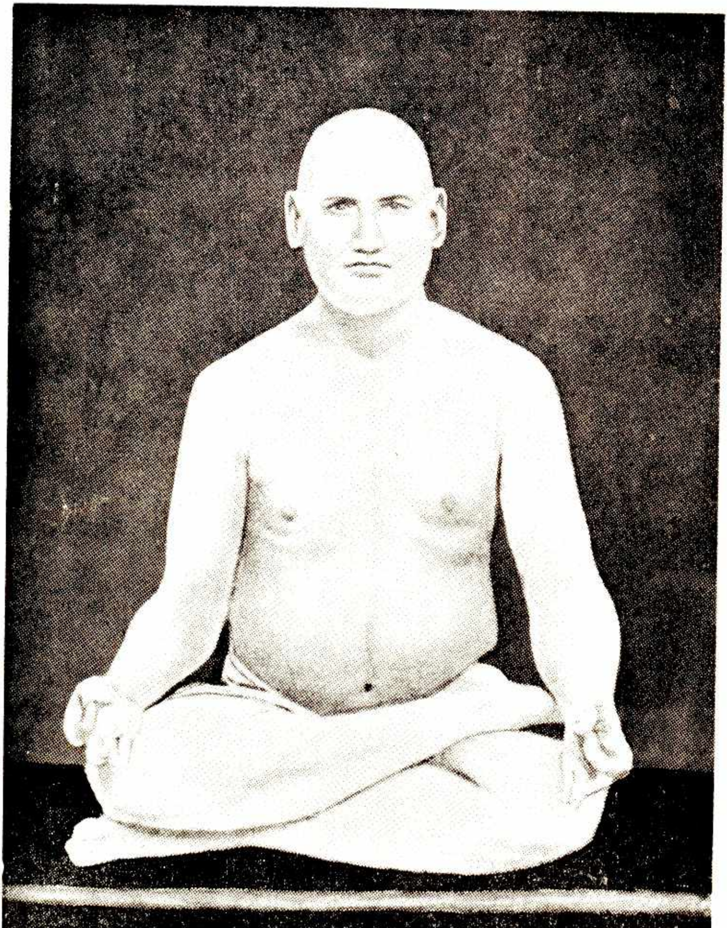

(महर्षि) दयानन्द सरस्वती

आदर्श गुरु-शिष्य

(गुरुवर विरजानन्द और दयानन्द)

स्वामी दयानन्द सरस्वती की गणना उन महापुरुषों में की जाती है जिनके जीवन की धारा को ही नहीं अपितु इतिहास के प्रवाह को भी बदलने में घटनाओं का विशेष हाथ रहता है। लोग प्रायः प्रतिदिन चूहों को शिव की मूर्ति के साथ अठखेलियाँ करते हुए देखते हैं, उनके लिए यह अनहोनी घटना नहीं होती, परन्तु जब १४ वर्षीय बालक मूलशंकर ने शिवरात्रि के दिन व्रत रखने और शिव के दर्शनों के लिए आधी रात तक जागरण करने के पश्चात् अपने टंकारा ग्राम के शिव-मन्दिर में चूहों को शिव की मूर्ति के साथ खिलवाड़ करते हुए देखा, तो उसे यह अनहोनी घटना जान पड़ी। उसके आत्मा में इस दिव्य ज्योति का प्रादुर्भाव हुआ कि जो शिव चूहों से अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वह सच्चा शिव नहीं है। इस घटना के कुछ काल पश्चात् जब उसकी बहिन और उसके चाचा की जिन्हें वह बहुत प्यार करता था, अकस्मात् मृत्यु हो गई, तो उसके हृदय में मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की भावना उत्पन्न हुई। सच्चे शिव के दर्शन और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की प्रबल इच्छा ने उसे विवाह के बन्धन में पड़ने से रोका और जब परिस्थितियों ने उसे विवश कर दिया तो वह २१ वर्ष की आयु में सत्य के पथ का पथिक बनकर घर से भाग निकला।

सद्गुरु की खोज

वस्तुतः दयानन्द ने सत्य की खोज के लिए ही अपने घर का परित्याग किया और प्रिय माता-पिता, भाई-बहनों तथा बन्धु-बान्धवों से नाता तोड़ा था। वह सच्चे योगियों और सच्चे गुरु की खोज में बीहड़ वनों और पर्वत-उपत्यकाओं में मारा-मारा फिरा। १४ वर्ष तक उसने हिमालय और आबू आदि पर्वतों का कोना-कोना छान मारा परन्तु उसे सच्चा योगी वा सच्चा गुरु न मिला। सत्य के इस अन्वेषक को कोई भी शारीरिक कष्ट और कोई भी पार्थिव भय वा प्रलोभन मार्ग-च्युत न कर सका। वह साहस और धैर्य के साथ अपने ध्येय की सिद्धि में निरत रहा। वह अंधकार से निकलकर प्रकाश की ओर जाने और ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए कृत-संकल्प था। सत्य के प्रति इस प्रबल भावना और उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग और बलिदान करने के लिए सन्नद्ध रहने के कारण ही दयानन्द का जीवन जाति के लिए वरदान और प्रेरणा बना।

गुरुवर से भेंट

१८६० ई० में दयानन्द मथुरा पहुँचे और वहीं गुरुवर विरजानन्द से उनकी भेंट हुई। बाल ब्रह्मचारी तपस्वी गुरु को बाल ब्रह्मचारी संन्यासी शिष्य मिला। दोनों को चिरकाल से जिस वस्तु की खोज थी वही उन्हें मिल गई। यह भेंट आर्य जाति की लुप्तप्राय गुरु-शिष्य परम्परा को अत्यन्त गौरवान्वित करने वाली सिद्ध हुई और आर्य जाति तथा विश्व के धार्मिक इतिहास में सुनहरा अध्याय जोड़ने तथा जाति के हर प्रकार के कल्याण एवं अभ्युत्थान की भूमि तैयार करने का कारण भी बनी। यदि दयानन्द की विरजानन्द से भेंट न हुई होती तो भारत को दयानन्द जैसा अनुपम युग-निर्माता न मिलता। यदि विरजानन्द को दयानन्द

जैसा शिष्य न मिलता तो उनकी आभा और कीर्ति दिग्-दिगन्तर में व्याप्त न हुई होती और वे वैदिक-ज्ञान के भण्डार की कुँजी को अपने हृदय में छुपाये हुए ही अप्रसिद्ध मृत्यु का ग्रास होकर विस्मृति की गोद में विलीन हो जाते। वस्तुतः गुरु-शिष्य दोनों ही असाधारण थे, दोनों ही एक-दूसरे से प्रशस्त हुए और दोनों के ही उपकारों से आर्य जाति सदैव उपकृत रहेगी।

जब दयानन्द गुरु विरजानन्द जी से मिलने के लिए उनके घर गए उस समय अन्दर से द्वार बन्द था। दयानन्द ने द्वार खटखटाया। भीतर से आवाज आई "कौन ?" उत्तर मिला, "दयानन्द सरस्वती"। पुनः आवाज आई "क्या चाहते हो ?" दयानन्द ने कहा 'आपका शिष्य बनना चाहता हूँ।' "क्या पढ़ा है ?" "व्याकरण तथा संस्कृत के कुछ ग्रन्थ"। द्वार खुला, दयानन्द भीतर प्रविष्ट हुए और भक्ति-भाव से गुरुदेव को प्रणाम किया। विरजानन्द जी ने कहा "मेरा शिष्य बनने की पहली शर्त यह है कि अनार्ष ग्रन्थों को फेंक दो और उनके संदर्भ को भूल जाओ।" दयानन्द ने यह शर्त स्वीकार कर ली और अपने भोजनादि की व्यवस्था से गुरुदेव को निश्चिन्त कर देने का वचन देने पर वे गुरुदेव द्वारा नियमित शिष्य बना लिये गए।

दयानन्द की गुरुदेव के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे प्रायः अपने लेखों और प्रवचनों में गुरुदेव का आदरपूर्वक स्मरण किया करते थे। अपने वेद-भाष्य के प्रत्येक अध्याय के अंत में उन्होंने लिखा—"इस अध्याय का भाष्य स्वामी विरजानन्द के शिष्य दयानन्द ने किया है।"

सुकरात की देन प्लेटो और प्लेटो की देन अरस्तू था। विरजानन्द की देन दयानन्द था जिसके देवोपम आदर्श जीवन, अगाध पांडित्य और महान् कार्य के प्रकाश की धवलता और प्रखरता की तुलना में उपर्युक्त

आचार्यों की आभा म्लान देख पड़ती है। दयानन्द को इतिहास में स्थान प्राप्त है परन्तु उपयुक्त स्थान प्राप्त होने में अभी समय लगेगा। आज कोई भले ही पक्षपात वा अज्ञान वश दयानन्द के साथ अन्याय करे परन्तु इतिहास अन्याय न करेगा।

मथुरा की पाठशाला

गुरु विरजानन्द की पाठशाला संस्कृत तथा व्याकरण विद्या का केन्द्र थी। जब विरजानन्द जी से दीक्षित होकर दयानन्द उसमें प्रविष्ट हुए तब उसमें कौमुदी-युग समाप्त होकर पाणिनि-युग प्रारम्भ हो चुका था। उसमें एकमात्र आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था। गुरुदेव की आज्ञा से मनुष्य-प्रणीत ग्रन्थ यमुना में प्रवाहित कर दिये जाते थे। जिन छात्रों के पास ये ग्रन्थ न होते और यदि उन्होंने उन्हें पढ़ा होता था तो उनको भूल जाने का आदेश दिया जाता था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, दयानन्द को भी यही आदेश दिया गया था। गुरुदेव को अनार्ष ग्रन्थों के प्रति बड़ी घृणा थी। उनकी मान्यता थी कि संस्कृत साहित्य दो कालों में विभक्त है——महाभारत से पूर्व का और महाभारत के पश्चात् का। महाभारत से पूर्व के साहित्य में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें प्राचीन कालीन आर्यों की आध्यात्मिक, नैतिक और बौद्धिक महत्ता प्रतिलक्षित होती है। उस काल के ग्रन्थों के निर्माता ऋषि लोग थे जिनके जीवन उच्च एवं पवित्र थे और भूली-भटकी मानव-जाति के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करते थे। उनके ग्रन्थों को पढ़ने से लाभ होता है। महाभारत के पश्चात् के काल में इन ग्रन्थों का पढ़ना-पढ़ाना प्रायः छोड़ दिया गया और ईर्ष्या, द्वेष एवं पक्षपात से परिपूर्ण संकुचित हृदय रखने वालों ने ग्रन्थ लिख डाले जिनके अध्ययन से धर्म की अपार क्षति हुई। वे इन मनुष्यकृत ग्रन्थों को अविद्यान्धकार का हेतु मानते थे। वे समझते थे कि

आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन की प्रक्रिया के लुप्त हो जाने और मनुष्य-कृत ग्रन्थों और भाष्यों का प्रचलन बढ़ जाने से ही आर्ष ग्रन्थ तिरस्कृत हुए, उनके मन-माने भाष्य प्रचलित हुए, वास्तविकता लुप्त हुई और मत-मतान्तरों एवं मूर्तिपूजा आदि अवैदिक प्रथाओं का प्रसार और प्राधान्य हुआ। उन्होंने बताया कि मत-मतान्तरों के विनाश व उनके दुष्प्रभाव के निराकरण का एकमात्र उपाय आर्ष ग्रन्थों का प्रसार और प्रचार ही है। गुरु विरजानन्द जो कुछ किसी को पढ़ाते तो टीका-भाष्यादि की सहायता के बिना ही पढ़ाते थे। विरजानन्द के मुख से नाना शास्त्रों की नाना व्याख्याएँ अविरत रूप से निकलकर शिष्य-मंडली को विस्मित कर देती थी। स्वयं अंधे होने पर भी वे बुद्धि की आँखों के प्रभाव से सब शास्त्रों के सब स्थानों के दर्शन करके अभीष्ट विषय की सुचारु मीमांसा कर देते थे। यही कारण था कि स्वामी दयानन्द इस अद्भुत व्यापार को देखकर इस अंधे अध्यापक को एक अलौकिक पुरुष एवं गुरु स्वीकार करने के लिए प्रवृत्त हुए थे।

भाष्यों में विरजानन्द एक महाभाष्य को मानते थे। महाभाष्य पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी का भाष्य है जो अद्वितीय है। जैसे कोई अष्टाध्यायी ग्रन्थ में पारंगत हुए बिना वेदादि शास्त्रों का मर्म नहीं जान सकता, वैसे ही महाभाष्य को विशेष रूप से जाने बिना अष्टाध्यायी का मर्मोच्छेद नहीं किया जा सकता। दयानन्द की प्रखर-तर्क-पटुता एवं कुशाग्र बुद्धि से प्रसन्न होकर गुरुदेव उन्हें कालजिह्व और कुलक्कर कह दिया करते थे। कालजिह्व उसे कहते हैं जिसकी जीभ असत्य के खंडन में काल के समान हो। कुलक्कर उसे कहते हैं जो शास्त्रार्थ के समय खूंटे के समान अविचलित रहकर शत्रु पक्ष को परास्त करे। विरजानन्द दयानन्द के पढ़ने की दशा से ही जान गए थे कि वह आगामी काल में अनुपम शिष्य और अलौकिक

महापुरुष सिद्ध होगा। गुरु विरजानन्द प्रायः कहा करते थे कि "इस समय में जिस आग को विद्यार्थियों के भीतर प्रविष्ट कर रहा हूं वह समय पाकर दावानल बनकर भारत भूमि के भ्रांत-मत और भ्रांत-विश्वास रूप जंजाल-राशि को भस्मीभूत कर देगी।" उनके इस स्वप्न को मूर्त्त रूप देने का श्रेय दयानन्द को प्राप्त हुआ।

दंडी जी की इस पाठशाला की तुलना युरोप की वोटेम्बर्ग की यूनिवर्सिटी के साथ कीजिए। लूथर ने उस यूनिवर्सिटी में अध्यापन कार्य करते हुए वह आग प्रज्वलित की थी जिसमें पोपों का प्रबल प्रताप भस्मीभूत हो गया था और पोप-प्रचारित धर्म-राशि छार-छार हो गई थी। भारत के पोपों का जिस आग में विध्वंस हुआ और जिसकी लपटों में आकर मत-मतान्तर छिन्न-भिन्न हुए, वह आग मथुरा की पाठशाला से ही उत्पन्न हुई थी।

गुरु विरजानन्द का जीवन चरित्र

जन्म और बाल्यकाल

विरजानन्द पंजाब के पंडित नारायणदत्त भारद्वाज के पुत्र थे। ५ वर्ष की आयु में उनपर शीतला (चेचक) का भयंकर आक्रमण हुआ जिससे वे अंधे हो गए थे। बालक विरजानन्द पर दुर्भाग्य का यह प्रथम आघात था। दूसरा आघात तब हुआ था जब बचपन में ही वे माता-पिता की छत्रच्छाया से वंचित हो गए थे। नेत्र और मातृ-पितृ विहीन बालक का संसार कितना सूना हो सकता है इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। बड़े भाई के प्रेम और सद्भाव से बालक के कुछ दिन चैन से कटे परन्तु भाभी के कटु व्यवहार के कारण यह स्थिति अधिक समय तक बनी न रह सकी। इस समय उसकी आयु लगभग १४ वर्ष की थी और स्वयं सोचने की शक्ति उत्पन्न हो गई थी। माता-पिता के मरने पर बालक विरजानन्द

के हृदय में जो विरक्ति उत्पन्न हुई थी, भाभी के दुर्व्यवहार ने उसे उत्कट रूप दे दिया। भाई-भाभी पर अवांछनीय भार न बने रहने और साधना में अपने अवशिष्ट जीवन को गला देने के विचार से वह एक दिन चुपचाप घर से भाग निकला और ऋषिकेश जा पहुंचा। किसी को क्या पता था कि यह अंधा बालक किसी दिन अनेक व्यक्तियों को ज्ञान के नेत्र प्रदान करेगा और दयानन्द के माध्यम से संसार में व्याप्त अविद्यान्धकार के निराकरण में योग देकर अमर ज्योति बन जायगा। उस समय बालक विरजानन्द को यह कल्पना भी न हो सकती थी कि क्या देश और क्या विदेश के विद्वान् और सुधारक उसकी प्रतिभा और विद्वत्ता का लोहा मानेंगे, और उसके उपकारों को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करेंगे। इतना ही नहीं, उसका जन्म, कुल, बचपन और जीवन वृत्त साहित्यकारों एवं अन्वेषकों की गवेषणा का लक्ष्य बनेगा।

देशाटन

बालक विरजानन्द ने ऋषिकेश की तपोभूमि में गायत्री की सिद्धि का उपक्रम किया। पितृ-गृह में उपनयन संस्कार के समय बताया हुआ गायत्री का महत्त्व उसके हृदय पर अंकित हो गया था कि इस की सिद्धि हो जाने पर मनुष्य को ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं। दिन-रात शीत-ताप और भूख–प्यास की परवाह किये बिना वह गंगा के जल में खड़े रहकर गायत्री का जाप करता रहता था। परन्तु एक दिन सहसा ही उसने ऋषिकेश छोड़ दिया श्रोर कनखल जा पहुंचा। वहां स्वामी पूर्णाश्रम से संन्यास की दीक्षा ग्रहण करके विरजानन्द नाम प्राप्त किया। पितृ-चरणों में बैठकर संस्कृत व्याकरण का जो ज्ञान हुआ था वह कनखल में रहते हुए बढ़ा। वहां अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन कार्य भी हुश्रा। कनखल निवास के कुछ काल पश्चात् स्वामी विरजानन्द काशी चले गए। वहां भी श्रध्ययन-

अध्यापन का क्रम चलता रहा। विलक्षण स्मरण-शक्ति, प्रखर प्रतिभा, तेजस्विता, धारणा शक्ति, व्याकरण-पांडित्य और अपूर्व पाठन-विधि से उन्हें सहज ही काशी की विद्वन्मंडली में ख्याति प्राप्त हो गई। इसके अनन्तर वे गया गए। वहां से कलकत्ता से लौटकर सोरों पहुँचे और वहीं गंगा तट पर स्थिर रूप से निवास करने के विचार से ठहर गए। यहाँ भी व्याकरण का अध्यापन कार्य किया।

अलवर निवास

एक दिन स्नान के पश्चात् गंगा के थोड़े से गहरे जल में खड़े हुए वे विष्णु-स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। उस समय वहां अलवर नरेश विनयसिंह भी उपस्थित थे। विरजानन्द के सुस्पष्ट, सुललित और एक प्रकार से अपूर्व उच्चारण को सुनकर और उनकी तेजोदीप्त गंभीर मुख-श्री को देखकर नरेश उनकी ओर आकृष्ट हो गए। उन्होंने स्वामी जी को अलवर ले जाने का निश्चय करके यह प्रस्ताव उनके समक्ष रखा, परन्तु स्वामी जी तयार न हुए। वे समझते थे कि अलवर नरेश भोगी हैं और मैं त्यागी हूँ, भोगी और त्यागी का साथ कैसे संभव हो सकता है? परन्तु अलवर-नरेश आग्रह करते रहे। जब उनका आग्रह बहुत बढ़ा तो स्वामी जो ने कहा, "यदि आप हमसे नियमपूर्वक पढ़ें तो हम अलवर जा सकते हैं।" अलवर-नरेश ने यह बात स्वीकार कर ली। इस पर स्वामी जी ने नरेश से यह भी स्वीकार कराया कि यदि इस प्रतिज्ञा का पालन न होगा तो हम अलवर से चले आयेंगे। फलतः स्वामी विरजानन्द जी अलवर गए। कुछ काल पर्यन्त अलवर-नरेश को व्याकरण पढ़ाया, उनकी प्रार्थना पर 'शब्द बोध', नामक व्याकरण का एक ग्रन्थ भी लिखा। किसी कारण वश एक दिन अलवर-नरेश पढ़ने के लिए न पहुँच सके। प्रतिज्ञा का यह अतिक्रमण विरजानन्द को सहन न हुआ और उन्होंने अलवर परित्याग का निश्चय

कर लिया। अलवर नरेश से यह कहकर "तुमने प्रतिज्ञा को तोड़ा है, मैं नहीं तोड़ सकता" अलवर छोड़ दिया।

मथुरा में स्थिर निवास

अलवर छोड़ने के पश्चात् स्वामी जी कुछ काल पर्यन्त सोरों रहे। वहां से भरतपुर, भरतपुर से मुरसान और मुरसान से मथुरा गए और मथुरा में ही स्थिर निवास का निश्चय करके बैठ गए तथा पाठशाला खोल ली।

घटनाचक्र बड़ा प्रबल होता है। मथुरा में कृष्ण शास्त्री नामक पंडित के शिष्यों और दंडी विरजानन्द के शिष्यों में इस बात पर विवाद हुआ कि "अजाद्युक्ति" में कौन समास है। कृष्ण शास्त्री के शिष्य सप्तमी तत्पुरुष बताते थे तो दंडी जी के शिष्य षष्ठी तत्पुरुष बताते थे। विद्यार्थियों का यह विवाद बढ़ते-बढ़ते गुरुजनों तक पहुंच गया। कृष्ण शास्त्री और स्वामी विरजानन्द जी के मध्य शास्त्रार्थ का प्रबन्ध हुआ, परन्तु कृष्ण शास्त्री को सभा में उपस्थित होने का साहस न हुआ और शास्त्रार्थ न हो सका। कृष्ण शास्त्री के शिष्य सेठ राधाकृष्ण ने सभाध्यक्ष की स्थिति से दो-चार बातें कहकर और विरजानन्द जी के शिष्यों का कृष्ण शास्त्री के शिष्यों के साथ नाम मात्र का शास्त्रार्थ कराके प्रसिद्ध कर दिया कि विरजानन्द हार गए। सेठ राधाकृष्ण इतने पर भी सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने अपने धन के बल पर काशी की पंडित-मंडली से यह व्यवस्था मंगा कर प्रचारित करा दी कि विरजानन्द जी का पक्ष अशुद्ध है, यद्यपि वह हृदय से विरजानन्द के पक्ष को शुद्ध मानती थी और उसने विरजानन्द जी के पत्रोत्तर में लिखे हुए पत्र में यह बात स्वीकार भी की थी। स्वामी विरजानन्द जी के हृदय में मनुष्य-कृत ग्रन्थों के प्रति जो घृणा उत्पन्न हो रही थी उसे इस घटना ने इतना प्रबल रूप दिया कि पाठशाला में सिद्धान्त कौमुदी, शेखर आदि की

पढ़ाई बन्द कर दी गई और पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी और महाभाष्य आदि पढ़ाये जाने लगे।

राजाश्रय-प्राप्ति का प्रयास

गुरु विरजानन्द की साध थी कि देश में आर्ष ग्रन्थों और सत्य सनातन वेदोक्त धर्म का प्रचार हो। इस कार्य की सिद्धि के लिए उन्होंने राजाश्रय प्राप्त करने की चेष्टा की। इस प्रसंग में उन्होंने जयपुर नरेश श्री रामसिंह जी से आगरा में भेंट की। उन्होंने स्वामी जी को वचन दिया परन्तु वह उसका निर्वाह न कर सके। ब्रिटिश सरकार से उन्हें कोई आशा न हो सकती थी। इस दिशा में किये गए अन्य उपाय भी सफल न हो सके। इस प्रकार सब ओर से निराश होकर वे बहुत दुःखी रहने लगे। वे कभी-कभी विचलित-चित्त होकर आप ही आप रोने लगते कि क्या इस देश में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो हमारे इस संकल्प को मूर्त्त रूप देने में समर्थ हो। जबकि हमारा उद्देश्य इतना अच्छा, इतना महान् और लोक-हितकारी है तो क्या परमात्मा एक भी ऐसे मनुष्य को नहीं भेजेगा जो इस बूढ़े के कंधे से इस कर्त्तव्य के भार को लेकर सर्वतोभावेन चिन्ताशून्य कर दे और नवशक्ति एवं नवजीवन की प्रतिष्ठा करके आर्यावर्त्त का पुनरुद्धार कर दे।

दयानन्द का आगमन

यही वह समय था जब दयानन्द मथुरा आकर दंडी जी की पाठशाला में प्रविष्ट हुए थे, मानो परमात्मा ने दंडी जी के स्वप्नों को मूर्त्त रूप देने के लिए दयानन्द को भेजा हो। दंडी जी ने दयानन्द की मेधा की परीक्षा करके और २–४ बातें करके ही जान लिया था कि यह विशेष गुण-सम्पन्न है और इस छात्र से हमारा स्वप्न मूर्त्त रूप धारण कर सकता है। दयानन्द को भी यह अनुभव हुआ कि "मैं अनेक अध्यापकों के संसर्ग में आया हूँ,

अनेक आचार्यों से मैंने अध्ययन किया है परन्तु किसी अध्यापक को इस प्रकार की बात करते हुए नहीं सुना और इस प्रकार की प्रकृति भी किसी आचार्य में दिखाई न पड़ी। जिस अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति की आशा में मैं इतने समय से घूम रहा हूं, संभव है वह इस अन्धे गुरु के निकट प्राप्त हो जाय।"

दयानन्द विद्यार्थी के रूप में

मथुरा में अमरलाल जोशी ने संन्यासी दयानन्द के भोजन का प्रबन्ध किया तथा पुस्तकें क्रय करा दीं। एक सज्जन ने चार आना मासिक तेल के लिए दिया और एक दूसरे सज्जन ने दूध का प्रबन्ध किया। मथुरा में विश्रामघाट के ऊपर वाले भाग में जो लक्ष्मीनारायण का मन्दिर है उसी के नीचे की मंजिल की एक कोठरी में दयानन्द के रहने की व्यवस्था हुई।

दयानन्द गुरुदेव की विद्वत्ता, उच्च चरित्र तथा अध्यापन शैली से अत्यन्त प्रसन्न एवं प्रभावित रहते थे। लगभग ढाई वर्ष पर्यन्त दयानन्द ने गुरुदेव के चरणों में बैठकर विद्याऽध्ययन किया। उन्होंने बड़े भक्ति-भाव से गुरुदेव की सेवा की। वे प्रतिदिन प्रातःकाल गुरुदेव के स्नान के लिए यमुना से जल लाते, आंगन में बुहारी लगाते और पूर्ण संयम एवं ब्रह्मचर्य से विद्याऽध्ययन करते थे। गुरुदेव की प्रकृति में मन्यु अधिक था। उनकी भर्त्सना और मारपीट को गुरुदेव द्वारा दी हुई पुष्प-मालाएँ समझ कर हृदय से उनका स्वागत करते थे। एक बार दयानन्द ने आंगन बुहार-कर एक कोने में कूड़ा एकत्र कर दिया और उसपर गुरुदेव का पैर अचा-नक पड़ गया। गुरुदेव ने दयानन्द पर इतने जोर से लाठी का प्रहार किया कि उस चोट का चिह्न मरण पर्यन्त उनके हाथ पर रहा। इस प्रकार प्रहारित होने पर दयानन्द ने गुरुदेव से कहा "गुरु जी, हमारा शरीर लोहे के समान कठोर है। ऐसे प्रहार से हमें कुछ क्लेश नहीं होता,

परन्तु आपके हाथों को जो कष्ट होता है उसे देखकर हमें क्लेश होता है।" प्रचार काल में वे उस चिह्न को लोगों को दिखाते हुए कहा करते थे "यह चिह्न मेरे गुरुदेव के प्रेम का चिह्न है।"

एक बार दयानन्द यमुना की रेती में ध्यानावस्थित अवस्था में बैठे थे। एक देवी ने श्रद्धा-भक्ति से प्रेरित होकर उनके चरण छू लिए। बाल ब्रह्मचारी दयानन्द के लिए यह अनहोनी घटना थी। उन्होंने ३ दिन पर्यन्त अनशन और साधना की जिससे कि इस स्पर्श की स्मृति शेष न रहे। यह थी उनकी संयम की उग्रतम भावना।

विरजानन्द बड़े अनुशासनप्रिय और स्वतंत्र प्रकृति के महानुभाव थे। एक दिन दयानन्द पढ़ा हुआ पाठ भूल गए। वे गुरु जी के पास पूछने गए तो गुरु जी ने उन्हें बताने से इंकार कर दिया और कहा "जाओ स्मरण, करो। मैं बार-बार बताने के लिए यहाँ नहीं बैठा हूँ।" दयानन्द ने २-३ दिन पर्यन्त गुरुदेव की अनुनय-विनय की और कहा "गुरुदेव" बहुत यत्न करने पर भी मुझे पाठ याद नहीं आया।" गुरुदेव ने क्रुद्ध होकर कह दिया, "मैंने तुम्हें एक बार कह दिया है कि यदि तुम मेरा पढ़ाया हुआ पाठ मुझे न सुनाओगे तो मैं तुम्हें आगे न पढ़ाऊंगा। यदि तुम्हें याद न आए तो यमुना में डूब मरना पर मेरे पास न आना।" यह सुनकर दयानन्द ने गुरुदेव के चरण छुए और और वहां से चल दिए। विश्राम-घाट के निकट सीता-घाट पर बैठकर भूले हुए पाठ को स्मरण करने लगे। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि सायंकाल तक पाठ याद न आया तो यमुना में कूद पड़ूंगा। सहसा ही उन्हें लगा कि कोई उन्हें समस्त प्रयोग की सिद्धि सुना रहा है। वे प्रसन्न होकर उठे और दौड़े-दौड़े गुरुदेव के पास जाकर उनको पूर्ण प्रयोग सुना दिया। गुरु विरजानन्द दयानन्द के असाधारण धैर्य, भक्ति तथा दृढ़ संकल्प को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें आशीर्वाद दिया।

गुरु-दक्षिणा और विदाई

गुरुदेव से व्याकरण महाभाष्य तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों को पढ़ने के पश्चात् जो भारत की बौद्धिक और आध्यात्मिक गरिमा के भव्य प्रतीक हैं, गुरुदेव से विदा लेने का समय उपस्थित हुआ। अधीतविद्य छात्र के लिए गुरु को दक्षिणा देकर विदा लेने की प्रथा चली आती है, परन्तु दयानन्द के पास गुरु-दक्षिणा देने के लिए कुछ न था। गुरुदेव को लौंग खाने का बहुत चाव था। दयानन्द ने किसी प्रकार ढाई सेर लौंग की व्यवस्था की और उन्हें भेंट करने गुरु-चरणों में उपस्थित हुए और कहा–"गुरुदेव" में अकिंचन (निर्धन) हूं। मेरी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार कीजिये।" गुरुदेव ने कहा, "दयानन्द ! मैं जानता हूँ तुम संन्यासी हो। तुम्हारे पास गुरु-दक्षिणा में देने के लिए धन नहीं है ? मैं तुमसे उस वस्तु की माँग न करूँगा जो तुम्हारे पास नहीं है। मैं तुमसे एक नये प्रकार की दक्षिणा चाहता हूँ। तुम मेरे सामने प्रतिज्ञा करो कि जब तक जीवित रहोगे तब तक आर्ष ग्रन्थों के प्रचार और वैदिक धर्म के विस्तार में प्रवृत्त रहोगे। इतना ही नहीं, वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन के लिए आवश्यक होने पर अपने प्राणों की बलि दे दोगे। मैं इस प्रतिज्ञा की पूर्ति ही तुम से दक्षिणा रूप में ग्रहण करूँगा।" यह सुनकर शिष्य (दयानन्द) ने 'तथास्तु' कहा। उस समय दयानन्द प्रस्थान के लिए उद्यत थे। विरजानन्द ने शिष्य के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और विरजानन्द के वृद्ध कन्धों पर पड़े हुए वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति के पुनरुद्धार के बोझ को अपने कंधों पर लेकर दयानन्द मथुरा से चल दिये और कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हो गए।

गुरुदेव का देहावसान

स्वामी विरजानन्द जी ने मरने से पूर्व अपने शिष्य युगलकिशोर के

नाम अपनी पुस्तकों, बर्तनों तथा अपने अन्य सामान की वसीयत लिख दी थी। १४ सितम्बर १८६८ को उनका मथुरा में देहावसान हुआ। मृत्यु के समय उनकी आयु ८० वर्ष से ऊपर थी।

उनके जीवन का अन्त भी जीवन के समान अद्‌भुत रहा। मृत्यु से कुछ दिन पूर्व उन्होंने इस आसन्न घटना का संकेत कर दिया था। वे कुछ दिन पर्यन्त ही रोग ग्रस्त रहे। अन्त समय आया जान कर उन्होंने परिचर्या में लगे हुए शिष्यों से उस स्थान पर बिठाने के लिए कहा जिस पर बैठकर वह पढ़ाया करते थे। उस स्थान पर बैठ जाने पर वे समाधिस्थ हो गए। कुछ क्षण के उपरान्त उनका एक हाथ झुक गया जो इस बात का संकेत था कि उनका आत्मा देह से शान्तिपूर्वक निकलकर अनन्त ज्योति में विलीन हो गया है। उनके निधन का समाचार पाते ही समस्त मथुरा नगरी शोक और सन्ताप से आकुल-व्याकुल हो गई। हजारों नर-नारी उनकी शव-यात्रा में सम्मिलित हुए जिन्होंने यह सिद्ध किया कि गुरुदेव के विरोधियों के हृदयों में भी उनकी विद्वत्ता और उनके उच्च चरित्र के लिए सम्मान था।

जब दयानन्द को शहबाजपुर में गुरुदेव की मृत्यु का समाचार मिला तो उनका प्रफुल्ल मुख-कमल सहसा ही म्लान हो गया। जिस दयानन्द को बहिन और चाचा की मृत्यु विचलित न कर सकी, उसे गुरुदेव की मृत्यु ने सहज ही विचलित कर दिया। उन्होंने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।"

इस प्रकार दुर्भाग्य और सौभाग्य के बीच झूलते हुए एक महान् जीवन का अन्त हुआ।